शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका
17 अक्टूबर 2026
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

सूरदास के काव्य में लोकजीवन और संस्कृति

मयंक द्विवेदी (शोधार्थी)
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली, भारत

शोध संक्षेप

प्रस्तुत शोध.आलेख में महाकवि सूरदास के काव्य में अभिव्यक्त लोकजीवनए लोकसंस्कृति और लोकचेतना का व्यापक एवं समग्र अनुशीलन किया गया है। भक्तिकाल की सगुण कृष्णभक्ति धारा के शीर्षस्थ कवि सूरदास का काव्य केवल भक्ति, अध्यात्म और दार्शनिक अनुभूति का काव्य नहीं है बल्कि उसमें तत्कालीन ब्रज समाज के जीवन-संसार की अत्यंत जीवंत और स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है। उनके पदों में ब्रजभूमि की सामाजिक संरचना, पारिवारिक संबंध, लोकविश्वास, लोकाचार, संस्कार, पर्व-उत्सव, रीति-रिवाज तथा दैनिक जीवन की विविध गतिविधियाँ जिस सहजता और आत्मीयता के साथ रूपायित हुई हैं वे सूरकाव्य को तत्कालीन लोकजीवन का महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक दस्तावेज बना देती हैं।

इस आलेख में सूरदास जी द्वारा कृष्ण की दिव्य लीलाओं को लोकानुभव से जोड़कर उन्हें किस प्रकार सामान्य जन के जीवन का अभिन्न हिस्सा बना दिया, इसका विश्लेषण किया गया है। बालकृष्ण की लीलाओं, माखनचोरी, ग्वाल-बालों के साथ उनके क्रीड़ाविनोद, यशोदा के वात्सल्य तथा ब्रज की स्त्रियों के पारस्परिक व्यवहार के माध्यम से तत्कालीन लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति सामने आती है। इसी क्रम में जन्म, छठी, अन्नप्राशन आदि संस्कारों, लोकरीतियों, टोने-टोटकों, शकुन-अपशकुन, लोकविश्वासों तथा विभिन्न पर्वों और उत्सवों के चित्रण पर भी प्रकाश डाला गया है।

भूमिका

सूरदास के काव्य में लोक केवल पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित नहीं है, बल्कि वह उनकी काव्य-दृष्टि का सक्रिय और जीवन्त आधार है। लोकभाषा, लोकाचार और लोकविश्वासों को आत्मसात् करके सूरदास ने कृष्णभक्ति को जनसामान्य के अनुभव-जगत से जोड़ा और उसे व्यापक लोकचेतना का स्वर प्रदान किया। अतः सूरकाव्य का लोकपक्ष न केवल तत्कालीन ब्रज-संस्कृति की विविधता और जीवंतता को उद्घाटित करता है, बल्कि यह भी प्रमाणित करता है कि सूरदास की काव्य-संवेदना लोक और शास्त्र, लौकिक और अलौकिक तथा व्यक्तिगत और सामुदायिक अनुभवों के सृजनात्मक समन्वय से निर्मित हुई है। साहित्यकार अपने समय और समाज से अर्जित जीवन्त अनुभवों को अपनी सृजनात्मक चेतना के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसीलिए साहित्य को उसके समकालीन सामाजिक परिवेश से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। कोई भी रचनाकार अपने युगए समाज और परिवेश से निरपेक्ष होकर साहित्य की रचना नहीं करता, बल्कि सामाजिक जीवन से निरंतर संवाद करते हुए ही उसकी दृष्टि, संवेदना और रचनात्मक चेतना का विकास होता है। इस दृष्टि से साहित्य तत्कालीन समाज के जीवन.मूल्यों, आचार-विचार, लोकविश्वासों, संघर्षों और सामूहिक अनुभूतियों का संवेदनशील प्रतिबिंब बन जाता है।

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 अक्टूबर 2026
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

रचनाकार अपने आसपास के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश से अनुभव ग्रहण करता है और उन्हीं अनुभवों को अपनी कल्पना तथा संवेदना के साथ रूपांतरित कर साहित्य में अभिव्यक्त करता है। फलतः किसी युग के सामाजिक वातावरणए लोकाचार और सामूहिक मानस की छाप उसके साहित्य में सहज रूप से दिखाई देती है। लोक.साहित्य को जन-जीवन का दर्पण कहा जाय तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी। लोक साहित्य जनता के हृदय का उद्‌गार है। सर्व-साधारण लोग जो कुछ सोचते हैं और जिस विषय की अनुभूति करते हैं उसी का प्रकाशन उनके साहित्य में पाया जाता है। ग्रामीण जनता विभिन्न संस्कारों और ऋतुओं में गीत गा-गा कर अपना मनोरंजन करती है। कहानियों को सुनना उनके मनबहलाव का अनन्य साधन है। समय-समय पर चुभती हुई लोकोक्तियों और भाव भरे मुहावरों का प्रयोग कर ग्रामीण जन अपने हृदयगत विचारों का प्रकाशन करते हैं। कुछ सूक्तियों में जिनका निर्माण जनता के अनुभव पर आश्रित है ऐसी अनुभूतियाँ पायी जाती हैं, जिनकी उपलब्धि अन्यत्र नहीं हो सकती।"**1**

'लोक' शब्द की संकल्पना अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है। संस्कृत की 'लोक दर्शने' धातु में 'षञ् प्रत्यय के योग से 'लोक' शब्द की निष्पत्ति मानी गई है। व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से इसका अर्थ है कृ 'देखने वाला' अथवा वह समस्त जनसमुदाय जो अपनी सहज दृष्टि, अनुभव और व्यवहार के आधार पर जीवन-व्यवहार को संचालित करता है। इस प्रकार 'लोक' का संबंध केवल किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र अथवा समुदाय से नहीं, बल्कि मनुष्य के सामूहिक जीवनानुभव और उसकी सहज सामाजिक चेतना से है।

वैदिक साहित्य में भी 'लोक' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद में यह शब्द एक ओर स्थान अथवा संसार का बोध कराता है, तो दूसरी ओर प्राणिमात्र की सत्ता का भी संकेत करता है। अर्थात् 'लोक' के अंतर्गत जीव और जगत दोनों समाहित हैं। ऋग्वेद में कहा गया है:

"नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्णो द्‌यौः समवर्तते।
पद्‌भ्यां भूमिर्दिदशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन।।"**2**

इस वैदिक प्रयोग से स्पष्ट होता है कि 'लोक' की अवधारणा आरंभ से ही केवल जनसमुदाय तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह समस्त सृष्टि, उसके विविध स्तरों और उसमें निवास करने वाले प्राणियों से संबद्ध रही है। इससे 'लोक' को जीवन और जगत् की व्यापक सत्ता के रूप में समझने का आधार प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण स्वयं अपनी व्यापक प्रतिष्ठा को 'लोक' और 'वेद' दोनों को स्वीकार करते हुए कहते हैं, "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।"**3** यहाँ 'वेद' विशिष्ट ज्ञान, शास्त्रीय परंपरा और अभिजात बौद्धिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि 'लोक' सामान्य जनजीवन, उसकी सहज अनुभूति, व्यवहारगत ज्ञान और सामूहिक अनुभव का द्‌योतक है। इस अर्थ में लोक उस जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल पोथीगत ज्ञान पर निर्भर न रहकर अपने दीर्घ जीवनानुभव, परंपरा और प्राकृतिक परिवेश के साथ विकसित ज्ञान-व्यवस्था के आधार पर जीवन का संचालन करता है।

इसी संदर्भ में डॉ.हजारी प्रसाद द्‌विवेदी का 'लोक' संबंधी विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके अनुसार 'लोक' नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 अक्टूबर 2026
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं और जो समूचे समाज की जीवन्तता को बनाए रखती है।"**4** द्विवेदी जी की यह अवधारणा 'लोक' को केवल ग्रामीण अथवा अशिक्षित जनसमुदाय के संकीर्ण अर्थ में देखने का निषेध करती है। उनके लिए लोक समाज की वह जीवंत शक्ति है, जो अपने अनुभव, परंपरा, श्रम, विश्वास, व्यवहार और सामूहिक स्मृति के माध्यम से संस्कृति को निरंतर गतिशील बनाए रखती है।

अतः 'लोक' को व्यापक अर्थ में जीवन से अर्जित सामूहिक अनुभव, सहज ज्ञान, सामाजिक व्यवहार, परंपरा, विश्वास और सांस्कृतिक चेतना से निर्मित जनजीवन के रूप में समझा जा सकता है। यह शास्त्र के समान किसी एक निश्चित ज्ञान.स्रोत में सीमित न होकर पीढ़ियों के अनुभव और व्यवहार में निरंतर विकसित होता रहता है। इसी कारण साहित्य में जब ष्लोकष् उपस्थित होता है तब उसके साथ केवल सामान्य जन नहीं आते, बल्कि उनका पूरा जीवन-संसार, उनकी भाषा, संस्कृति, आस्थाएँ, रीति-रिवाज, उत्सव, लोकविश्वास और सामूहिक संवेदनाएँ भी साहित्य का हिस्सा बन जाती हैं। सूरदास के काव्य में ब्रज का लोकजीवन इसी व्यापक अर्थ में अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ लोक केवल काव्य की पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि उसकी संवेदना और जीवन-दृष्टि का मूल आधार बनकर उपस्थित होता है।

हिंदी साहित्य में भक्त कवियों ने मध्यकालीन राज्य-व्यवस्था और सामाजिक विसंगतियों के बीच अपनी वैकल्पिक जीवन-दृष्टि प्रस्तुत कर जनसामान्य को तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करने का आधार प्रदान किया। मध्यकाल राजनीतिक अस्थिरता, सामंती दबाव और सांस्कृतिक संक्रमण का दौर था। ऐसे समय में महाकवि सूरदास ने ब्रजभूमि के लोकजीवन और कृष्ण-लीला को काव्य का केंद्र बनाकर लोकमानस में आनंद, सहजीविता और सांस्कृतिक जीवन-शक्ति का संचार किया। सूरदास के जन्म.स्थान और काल को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं, तथापि बाह्य एवं अंतःसाक्ष्यों के आधार पर संवत् 1535 (वैशाख शुक्ल 5) में दिल्ली के निकट स्थित सीही ग्राम में उनका जन्म स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत माना जाता है।

सूरदास के काव्य में लोक जीवन और लोक संस्कृति

सूरदास के काव्य में ब्रज की लोकसंस्कृति, लोकरीतियों, लोकोपचारों और लोकवार्ता का अत्यंत स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण मिलता है। लोकवार्ताके अंतर्गत वे ज्ञान, विश्वास, रीति-रिवाज और मौखिक परंपराएँ आती हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोकसमाज में संचरित होती रहती हैं। सूरकाव्य की विशेषता यह है कि इसमें शास्त्रीयता और लोकानुभव का सहज समन्वय दिखाई देता है। उन्होंने दार्शनिक सिद्धांतों को ही काव्य का आधार न बनाकर गोप-गोपियों, ग्वालों, माताओं और ग्रामीण जनजीवन की सहज अनुभूतियों को अपनी काव्य-संवेदना से जोड़ा। इसीलिए सूर की भक्ति केवल आध्यात्मिक अनुभूति न रहकर लोक-सम्पृक्ति और सामूहिक जीवनानुभव की सशक्त अभिव्यक्ति बन जाती है। सूरदास का सूरसागर ब्रज के लोकजीवन का समृद्ध सांस्कृतिक कोश है। इसमें तत्कालीन ग्रामीण समाज की सहजता, पारिवारिक आत्मीयता, वात्सल्य, क्रीड़ा, गार्हस्थ जीवन और सामुदायिक सहकारिता के विविध रूप अभिव्यक्त

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 अक्टूबर 2026
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

हुए हैं। विशेषतः बालकृष्ण की चेष्टाओं और यशोदा के मातृ-स्नेह के चित्रण में सूरदास ने ब्रज की लोकरीतियों और पारिवारिक जीवन को इतनी स्वाभाविकता से रूपायित किया है कि कृष्ण की दिव्यता लोकजीवन की सहज अनुभूति में घुल.मिल जाती है। यही सूरकाव्य की लोकधर्मिता और उसकी स्थायी साहित्यिक शक्ति है।

भारतीय लोकजीवन में संस्कारों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये संस्कार व्यक्ति के जीवन को सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं से जोड़ने का कार्य करते हैं। सूरदास ने कृष्ण जन्म के प्रसंग में ब्रजसमाज के ऐसे ही लोकाचारों और मंगलपरंपराओं का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण किया है। नंदबाबा के घर कृष्ण के जन्म लेते ही उल्लास का वातावरण छा जाता है। मंगलगान, बधाइयों, गोप-गोपियों के नृत्य और विभिन्न लोकाचारों के माध्यम से सामूहिक आनंद की अभिव्यक्ति होती है। छठी के अवसर पर मालिन द्वारा बंदनवार बाँधना, केले के खंभ रोपना, नाइन द्वारा महावर लगाना तथा दाई (धाय) को नेग देना जैसे लोकाचार तत्कालीन ब्रज के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। छठी संस्कार का यह दृश्य देखिए :

“छठी सबेसरे माई ! आजु नन्द जू के द्वारि।
बाजत बधाई अति अनन्द, आनंद मगन ब्रजनारि।।
कंचन कलस विचित्र भरे अतिए बंदनवार रसाल ।
रोपि केरे खंभ द्वारै, पूरै विविध गुलाल ।।”**5**

इस पद में केवल एक धार्मिक संस्कार का वर्णन नहीं है, बल्कि उसके माध्यम से ब्रज के सामूहिक लोकानंदए स्त्री-सहभागिता और मंगलाचार की जीवंत छवि उभरती है। इसी प्रकार अन्नप्राशन संस्कार के अवसर पर बालक को पहली बार अन्न ग्रहण कराने तथा काँसे की थारी में भात, खीर, माखन और मिसरी परोसने की परंपरा का भी सूरदास ने आत्मीय चित्रण किया है :

“अन्नप्रासन दिन आजु कन्हैया।
काँसे की थारी में जेवें, लेति मया बलिहैया।।
कंचन थार थकित करि राखे, माखन मिसरी मेलि।
सुरपति.शंभु बिलोकन आएए नन्द.भवन की केलि।।”**6**

इस प्रकार सूरदास ने संस्कारों को केवल धार्मिक अनुष्ठान न रहने देकर उन्हें ब्रज के पारिवारिक और सामुदायिक जीवन की सहज अभिव्यक्ति बना दिया है।

लोकजीवन में विश्वासों और लोकाचारों का संबंध मनुष्य की सहज सुरक्षा-बोध तथा भावनात्मक आवश्यकताओं से रहा है। विशेषतः बालकों को दृष्टिदोष से बचाने के लिए काजल, डिठौना तथा राई-नोन उतारने जैसी लोकपरंपराएँ प्रचलित रही हैं। सूरदास ने माता यशोदा के वात्सल्य के माध्यम से इस लोकविश्वास को अत्यंत मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। कृष्ण को नज़र लगने की आशंका से व्याकुल यशोदा राई-नोन उतारती हैं और उनके ललाट पर काजल का डिठौना लगाती हैं :

“वारौं राई नोन उतारी।
मेरो कान्हा कुँवर सोहनो, काहू की नजरि न जारी।।
काजर रेख लिलार लगावै, दै डिठौना भाल।
सूरदास प्रभु कौं चिरजीवौ, नन्द-मह रसाल ।।”**7**

यहाँ लोकविश्वास किसी रूढ़ धारणा मात्र के रूप में नहीं, बल्कि मातृ-स्नेह और अपने प्रिय बालक की रक्षा की सहज आकांक्षा के रूप में सामने आता है। कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं और

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 अक्टूबर 2026
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

अनुपम सौंदर्य को देखकर यशोदा की दृष्टिदोष निवारण संबंधी चिंता इसी लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सूरदास ने लोकविश्वासों को मानवीय संवेदना से जोड़कर उन्हें काव्यात्मक अर्थ प्रदान किया है।

सूरकाव्य में बाल-क्रीड़ा का चित्रण उसकी विशिष्ट लोकधर्मिता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। सूरदास ने बालकृष्ण की केवल बाह्य चेष्टाओं का अंकन नहीं किया, बल्कि उनकी बाल-सुलभ मनोवृत्तियों, चपलता और तर्क.बुद्धि को भी अत्यंत सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है। माखनचोरी का प्रसंग इसी दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। यह केवल कृष्ण की लीला का धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि ब्रज के ग्रामीण जीवन, बाल-मंडली की सामूहिक चंचलता और बाल-मनोविज्ञान का सहज चित्र है।

माता यशोदा द्वारा माखन खाते पकड़ लिए जाने पर कृष्ण जिस भोलेपन और चतुराई से अपना पक्ष रखते हैं, उसमें बाल-मन की सहज तर्कशीलता और लोक-व्यवहार की अद्भुत पहचान दिखाई देती है :

मैया मोरी मैं नहीं माखन खायौ।
भोर भये गैयन के पाछे, मधुबन मोहि पठायौ।।
चारि पहर बंसीवट भटक्यौ, साँझ परे घर आयौ।
मैं बालक बहियन कौ छोटौए छींकौ केहि विधि पायौ ?
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायौ।
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायौ।।"**8**

"छींका' जैसे शब्दों का प्रयोग तत्कालीन ग्रामीण गृहस्थ जीवन की वस्तुगत संरचना को भी सामने लाता है। माखन-दही को सुरक्षित रखने के लिए घर में ऊँचाई पर बाँधी जाने वाली इस पारंपरिक व्यवस्था का उल्लेख पद को लोकजीवन के ठेठ परिवेश से जोड़ देता है। इसी प्रकार कृष्ण की अपनी चोटी के न बढ़ने की शिकायत भी बाल-मनोविज्ञान की सहजता और पारिवारिक आत्मीयता को प्रकट करती है :

"मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी ?
कैती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों, खैहै लॉबी मोटी।
काढ़त गुहत नहवावत जैहै, नागिनि सी भुइँ लोटी।।"**9**

इस प्रकार सूरदास की बाल-कृष्ण लीला में दिव्यता और लोकजीवन का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। कृष्ण यहाँ केवल आराध्य देव नहीं, बल्कि ब्रज के घर-आँगन में पलने वाला ऐसा बालक हैं, जिसकी शरारतों, जिज्ञासाओं और चंचलताओं में तत्कालीन लोकजीवन की सहज धड़कन सुनाई देती है।

सूरदास का काव्य ब्रज के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का जीवंत दर्पण है। ब्रज की लोकसंस्कृति में गो-पालन, कृषि और उत्सवधर्मिता का विशेष महत्त्व रहा है। यही कारण है कि सूरकाव्य में होली (फाग), गोवर्धन-पूजा, रासलीला, कंस-वध और जल-क्रीड़ा जैसे प्रसंग केवल धार्मिक आख्यान के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक लोकजीवन की उल्लासपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में उपस्थित हुए हैं।

ब्रज की होली अपनी रंगमयता, संगीत, हास-परिहास और सामुदायिक सहभागिता के कारण विशिष्ट लोकपर्व का स्वरूप रखती है। सूरदास ने फाग के माध्यम से इस उत्सव की जीवंतता को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से रूपायित किया है। गोप-गोपियों का परस्पर रंग खेलना, अबीर-गुलाल उड़ाना, मृदंग, झाँझ और डफ की ताल पर नृत्य करना तथा सामूहिक गायन इन सबके समन्वय

से ब्रज का उत्सवी लोकजीवन साकार हो उठता है:

"करी गोपाल की सब होई।
जो अपनी पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोई।
साधनए मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारै धोई।
जो कछु लिखि राख्यो नंदनंदन, मिटि सके नहिं कोई।
दुःख-सुख, लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहूँ मरत हो रोई।
सूरदास स्वामी करुणामयए श्याम.चरन मन पोई।"**10**

इस पद में सूरदास ने लोकजीवन की व्यावहारिक अनुभूति और लोकसंस्कृति में गहरे पैठे दैवविश्वास को कृष्ण-भक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। भारतीय लोकजीवन में मनुष्य अपने दैनिक श्रम, पुरुषार्थ और विभिन्न साधनों के सहारे जीवन को संचालित करता है, किंतु अनिश्चित परिस्थितियों के सामने वह अंततः किसी अदृश्य शक्ति पर विश्वास करता है। इसी लोकचेतना को सूरदास कहते हैं : 'करी गोपाल की सब होई।' पद में 'साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल का उल्लेख तत्कालीन लोकजीवन में प्रचलित विविध उपायों, धार्मिक विश्वासों और संकट-निवारण की लोकमान्यताओं को सामने लाता है। वहीं 'जो कछु लिखि राख्यो नंदनंदन' लोकमानस में विद्यमान भाग्य और नियति की धारणा को व्यक्त करता है। सुख-दुःख और लाभ-अलाभ को समान भाव से स्वीकार करने की सीख भी लोकजीवन के अनुभवों से जुड़ी है, जहाँ मनुष्य प्रकृति, परिस्थितियों और सामाजिक जीवन की अनिश्चितताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार यह पद केवल ईश्वर की महिमा का गान नहीं, बल्कि लोकजीवन की आशा, आस्था, असुरक्षा, संघर्ष और समर्पण की सामूहिक चेतना का काव्यात्मक रूप है। सूरदास लोकविश्वासों को कृष्ण-केंद्रित भक्ति-दृष्टि प्रदान करके लोक-संस्कृति को आध्यात्मिक अर्थ देते हैं।

सूरकाव्य में गोवर्धन-लीला केवल पौराणिक आख्यान नहीं, बल्कि ब्रज की प्रकृति-आश्रित लोकसंस्कृति और कृषि-आधारित जीवन-दृष्टि की सशक्त अभिव्यक्ति है। गोवर्धन पूजा के प्रसंग में कृष्ण ब्रजवासियों को इंद्र पूजा के कर्मकांडीय आग्रह से हटाकर गोवर्धन पर्वतए वन, गोधन और अपनी प्रत्यक्ष जीवन-व्यवस्था के प्रति कृतज्ञ होने की प्रेरणा देते हैं। इस दृष्टि से यह प्रसंग लोकधर्म और प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है :

"मानहु मेरो कहयौ ब्रजवासी !
पूजहु गिरि गोवर्धन जासोंए मिटै आपदा रासि।।
इन्द्र कहा हमकौं फल दैहैए यह प्रत्यक्ष सुखरासि।
गावैं गुपाल गोपालनि संगै, नन्द महर के दासि।।"**11**

उपर्युक्त पद में 'प्रत्यक्ष सुखरासि' की संकल्पना विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ लोकजीवन अपनी जीवन-निर्वाह की वास्तविक शक्तियों पर्वत, वन, गोधन और प्रकृति को पहचानता है तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। इस प्रकार गोवर्धन पूजा में सूरदास ने ब्रज की कृषि एवं पशुपालन आधारित अर्थव्यवस्था के साथ उसकी प्रकृति पूजक लोकचेतना को भी अभिव्यक्ति दी है।

'लोकचेतना को प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने में लोकभाषा की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जनसामान्य के जीवन, अनुभव और संवेदना को उसकी अपनी भाषा में ही सबसे स्वाभाविक रूप से व्यक्त किया जा सकता है। इसी कारण वाल्मीकि ने भी लोकसंवेदना की अभिव्यक्ति के

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 अक्टूबर 2026
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

लिए लोकभाषा का आश्रय लिया।"**12** सूरदास ने तत्कालीन जनपदीय ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाकर उसे लोकानुभव, भाव-संवेदना और सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति बना दिया। उनकी भाषा में संस्कृत की शास्त्रीय गरिमा के साथ लोकजीवन से जुड़े शब्दोंए मुहावरों, लोकोक्तियों और बोलचाल की सहजता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

सूरदास केवल भावप्रवण कवि ही नहीं, बल्कि संगीत के भी मर्मज्ञ साधक थे। सूरसागर के पदों में शास्त्रीय राग-रागिनियों जैसे बिलावल, सारंग, कान्हड़ा और केदार के साथ लोकधुनों, लोकगीतों तथा लोकनाट्य की लयात्मकता भी अनुभव की जा सकती है। ब्रज की रास, फाग, धमार, सोहर और बधाई जैसी लोकपरंपराओं की सामूहिकता और संगीतात्मकता उनके पदों को विशेष जीवंतता प्रदान करती है। रासलीला के प्रसंग में नृत्य, गायन और वाद्य-संगीत का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि सूरदास का काव्य केवल आध्यात्मिक अनुभूति अथवा धार्मिक सिद्धांतों की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि वह मध्यकालीन ब्रज के लोकजीवन और लोकसंस्कृति का समृद्ध एवं जीवंत सांस्कृतिक कोश है। सूरदास ने लोक और शास्त्रए लौकिक और अलौकिक तथा व्यक्तिगत और सामुदायिक अनुभवों का ऐसा सृजनात्मक समन्वय किया हैए जिसमें लोक की सहजता, आचार-विचार, संस्कार, लोकविश्वास, पर्व-उत्सव, भाषा, संगीत और सामूहिक जीवन समान रूप से स्पंदित होते हैं। सूरदास की लोकचेतना का आधार लोकमंगल और लोकरंजन है। उन्होंने कृष्ण को किसी दूरस्थ, भयप्रद अथवा केवल कर्मकांडीय ईश्वर के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि उन्हें ब्रज के पुत्र, सखा और लोक-रक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया। बालकृष्ण की तुतलाती बोली, यशोदा का वात्सल्य, गोपियों के सहज उलाहने, गोवर्धन पूजा में प्रकृति के प्रति कृतज्ञता और भ्रमरगीत में लोक-व्यंग्य ये सभी प्रसंग सूरकाव्य को लोकजीवन की गहरी संवेदना से जोड़ते हैं। वस्तुतः सूरदास का काव्य लोकजीवन की जीजिविषा, आनंद और सांस्कृतिक वैभव का अक्षय स्रोत है। उसमें मध्यकालीन ब्रज का जीवन अपनी सहजता, आत्मीयता और संवेदनात्मक ऊष्मा के साथ सुरक्षित है। यही लोकसम्पृक्ति सूरकाव्य को कालजयी बनाती है और उसे भारतीय साहित्य की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1 डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1957, पृष्ठ 26

2 ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 90वें सूक्त (पुरुष सूक्त) का 14वां मंत्र (10/90/14)

3 श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 15, श्लोक 18, भक्ति वेदांत बुक ट्रस्ट पृष्ठ 526

4 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, साहित्य भवन इलाहावाद, द्वितीय संस्करण,1954 पृष्ठ 206

5 सूरसागर, सं. हरदेव बाहरी और राजेन्द्र कुमार, दशम स्कन्द, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पद संख्या 26

6 वही, पद संख्या 15

7 वही, संख्या 40

8 वही, पद संख्या 284

9 वही, पद संख्या 305

10 सूरसागर सार, डॉ.धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, 1986 पद संख्या 28, पृष्ठ 31

11 सूरदास, सूरसागर, सं हरदेव बाहरी और राजेन्द्र कुमार, दशम स्कन्द, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पद संख्या 512

12 डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1957, पृष्ठ 13